पर्यावरण एवं सामाजिक खुदकुशी की ओर सौ दिन

अशीष कोठारी

मैंने एक भविष्यवाणी की थी जिसके बारे में मेरी दिली इच्छा थी कि वह कभी सच न हो। अप्रैल माह में मैंने एक आलेख लिखा था जिसका शीर्षक था - 'क्या मोदी विकास की त्रासदी साबित होंगे?' इसमें मैंने लिखा था -

''यूपीए सरकार का रिकॉर्ड बिलकुल भी अच्छा नहीं रहा है, जिसके दस साल के कार्यकाल में करीब ढाई लाख हैक्टर वन भूमि डायवर्ट कर दी गई। ज़मीन के जबरन और निरंतर अधिग्रहण के कारण कई किसानों, आदिवासियों, मछुआरों और अन्य समुदायों के लोगों को अपने स्थानों से बेदखल होना पड़ा है। केंद्रीय पर्यावरण मंत्री वीरप्पा मोइली जिस तेज़ी से खनन, औद्योगिक एवं आधारभूत ढांचा परियोजनाओं को मंजूरी दे रहे हैं, उससे समुदायों, जन आंदोलनों और गैर सरकारी संस्थाओं में आक्रोश है। लेकिन अगर मोदी की आर्थिक नीतियों को फ्री हैंड दे दिया गया तो इतने व्यापक पैमाने पर हुआ सामाजिक एवं पर्यावरणीय विध्वंस नई ऊंचाइयों पर पहुंच जाएगा। मोदी पर्यावरण एवं वन मंत्रालय को निर्देश देंगे कि मोइली द्वारा परियोजनाओं की मंज़ूरी के लिए किए गए अच्छे काम को आगे बढ़ाए। और अगर परियोजनाओं की मंज़ूरी की राह में वे कानून आएंगे, जिन्हें पाने के लिए लोगों ने 1980 और 1990 के दशक में संघर्ष किया था, तो वे उन्हें निष्प्रभावी बनाने में भी पीछे नहीं रहेंगे...।

पूरे भारत में देखें तो अधिकार प्रदान करने वाले कानूनों (जैसे सूचना का अधिकार कानून) के लिए नागरिकों ने कड़ा संघर्ष किया है ताकि आम लोगों की आवाज़ बुलंद हो सके और लोकतंत्र को सही दिशा मिल सके। इस सम्बंध में गुजरात के रिकॉर्ड के आधार पर माना जा सकता है कि अगर मोदी प्रधानमंत्री बनते हैं तो इस तरह के नागरिक संघर्षों के साथ पूरी कठोरता से निपटा जाएगा।.... इस सबमें, खास तौर से विकास के वैश्वीकृत मॉडल के संदर्भ

में, मोदी और भाजपा अन्य मुख्यधारा के राजनीतिक नेताओं और पार्टियों से अलग नहीं हैं। वे ज़मीन एवं प्राकृतिक संसाधनों की छीना-झपटी और केंद्रीकृत नियंत्रण की उसी ऐतिहासिक परंपरा को आगे बढ़ाने वाले हैं, जो अंग्रेज़ों के ज़माने में चरम पर थी। आज़ादी के बाद हमारे नेताओं ने विकास के पश्चिमी मॉडल का जिस तरह से अंधानुकरण किया, वे उसी दिशा में आगे बढ़ेंगे। लेकिन इसके साथ ही मोदी के कार्य करने का अलोकतांत्रिक तरीका, अहंकार, बड़े निजी घरानों पर विश्वास और सामाजिक भेदभाव इस विनाशकारी मॉडल को और भी विध्वसंक रूप प्रदान कर सकता है।"

प्रतिगामी कदम

दुर्भाग्य से ये आशंकाएं सच साबित होनी शुरू हो गई हैं जबकि भाजपानीत सरकार को आए अभी बहुत ही कम अरसा हुआ है। कुछ कदमों पर एक नज़र डाल लेते हैं :

1. वर्ष 2014-15 के अपने पहले ही बजट में पर्यावरण, वन एवं जलवायु परिवर्तन मंत्रालय के बजट में पिछले साल की तुलना में 50 फीसदी तक की कटौती कर दी गई। इस मंत्रालय के मंत्री प्रकाश जावड़ेकर को दो अन्य प्रमुख मंत्रालयों का भी प्रभार दिया गया है। यह मंत्रालय जिस तरह से पर्यावरण सम्बंधी कानूनों और प्रक्रियाओं को निष्प्रभावी करता जा रहा है, उससे यह एक हल्की-फुल्की एजेंसी में रूपांतरित होने की दिशा में आगे बढ़ रहा है।

2. अपने पहले बजट भाषण में केंद्रीय वित्त मंत्री अरुण जेटली ने इनमें से एक भी शब्द का उच्चारण एक बार भी नहीं किया : टिकाऊ विकास (सस्टेनेबल डेवलपमेंट), वन, वन्यजीव, जैव विविधता, पारिस्थितिकी। 'निवेश' शब्द 32 बार जबकि 'विकास' शब्द 31 बार आया।

3. प्रकाश जावड़ेकर द्वारा की गई शुरुआती घोषणाओं में एक यह थी कि वे परियोजनाओं को अतिशीघ्र मंज़ूरी दिलवाएंगे। जैसा उन्होंने कहा था, वैसा ही उन्होंने कर दिखाया। शुरुआती तीन महीनों में ही उन्होंने 240 परियोजनाओं को मंज़ूरी दिलवाई है। तीन माह का समय इतना कम होता है कि इसमें न तो किसी परियोजना के पर्यावरण-प्रभावों का अध्ययन किया जा सकता है, न ही जनसुनवाई की जा सकती है और न अन्य स्थापित प्रक्रियाओं का पालन करना ही संभव है।

4. चूंकि परियोजनाओं की अतिशीघ्र मंज़ूरी विभिन्न पर्यावरणीय कानूनों या नियमों का उल्लंघन किए बगैर नहीं मिल सकती, इसलिए जावड़ेकर ने इन कानूनों एवं नियमों को निष्प्रभावी बनाने के लिए अनेक कदम उठाए हैं। ऐसे कुछ कदम इस प्रकार हैं :

- टाइगर रिज़र्व, नेशनल पार्क और अभयारण्यों के आसपास शुरू होने वाली परियोजनाओं के लिए राष्ट्रीय वन्यजीव बोर्ड की मंज़ूरी की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया है।
- पहले आरक्षित क्षेत्र के आसपास 10 कि.मी. क्षेत्र में बोर्ड की मंज़ूरी लगती थी, अब इसे घटाकर 5 कि.मी. कर दिया गया है।
- वन संरक्षण कानून के तहत अब उन प्रक्रियाओं के पालन में छूट दे दी गई है जो वन क्षेत्र, जंगलों और अंतर्राष्ट्रीय सीमा से सटे एवं नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में स्थित पर्यावरण-संवेदनशील क्षेत्रों में लीनियर प्रोजेक्ट्स (सड़क वगैरह) की मंज़ूरी के लिए अनिवार्य थीं। इनमें भू-उपयोग परिवर्तन के लिए पहले केंद्र सरकार की मंज़ूरी आवश्यक थी। इसका मतलब यही है कि लीनियर प्रोजेक्ट्स की मंज़ूरी मिलने से पहले ही पेड़ काटे जा सकेंगे, बशर्ते जंगलों को काटे जाने के बदले में निर्धारित मुआवज़ा राशि चुका दी जाए।
- 1.6 करोड़ टन सालाना से कम क्षमता वाली कोयला खदानों के लिए जनसुनवाई की ज़रूरत को खत्म कर दिया गया है। पहले यह सीमा 80 लाख टन थी। इसके अलावा 2 करोड़ टन सालाना क्षमता वाली कोयला खदानों के लिए एक बार में 60 लाख टन के विस्तार की अनुमति दी गई है।
- जिन सिंचाई परियोजनाओं से दो हज़ार हैक्टर से कम ज़मीन प्रभावित हो रही है, उनके लिए पर्यावरण मंज़ूरी की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया है। इसके अलावा उन सिंचाई परियोजनाओं के लिए राज्य सरकारों की मंज़ूरी ही पर्याप्त होगी जिनसे दस हज़ार हैक्टर

तक ज़मीन प्रभावित हो रही है।

5. जैसे एनबीडब्ल्यूएल के उपरोक्त अधिकारों में कटौती करना ही पर्याप्त नहीं था, सरकार ने इस संस्था के पर्यावरण संरक्षण सम्बंधी अधिकारों को और भी भौंथरा बनाने के लिए एक भी गैर सरकारी संस्था को इसका सदस्य नहीं बनाया। यह वन्य जीव (संरक्षण) कानून का खुला उल्लंघन था, इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बंध में दायर एक याचिका पर सुनवाई करते हुए इस एनबीडब्ल्यूएल के कार्य करने पर रोक लगा दी। इसके जवाब में केंद्रीय पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने कानून के हिसाब से ज़रूरी समग्र एनबीडब्ल्यूएल का गठन तो किया लेकिन इसमें भी पूर्व वन अधिकारियों की भरमार है। गैर सरकारी संस्थाओं के नाम पर ऐसी संस्थाओं को सदस्य बनाया गया है जो केवल रबर स्टॉम्प की तरह काम करेंगी (एक-दो संस्थाओं को छोड़कर)।

6. जिस प्रधानमंत्री ने यह घोषित कर रखा हो कि स्वच्छता उनकी सर्वोच्च प्राथमिकता है, वहां इसे विडंबना ही माना जाएगा कि पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने उन 8 औद्योगिक क्लस्टर्स के विस्तार पर लगा प्रतिबंध हटा लिया है, जिन्हें भारत के सर्वाधिक 43 प्रदूषित क्लस्टर्स में शामिल किया गया है। इनमें गुजरात का वापी भी शामिल है, जो भारत के सर्वाधिक प्रदूषित स्थल का रिकॉर्ड तोड़ चुका है।

संभावित प्रतिगामी कदम

हाल ही में 17 सितंबर को हुई एक बैठक में पर्यावरण मंज़ूरी सम्बंधी मानदंडों को आसान बनाने के निर्देश दिए गए थे। इनमें से अधिकांश वही थे, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। आने वाले समय में कुछ और कदम उठाए जा सकते हैं जो इस तरह होंगेः

1. नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) सरकार की आंखों की किरकिरी रहा है। इसका गठन वर्ष 2010 में पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के अंतर्गत किया गया था, लेकिन यह अपनी स्थापना से ही एक स्वतंत्र निकाय के रूप में कार्य करता आया है। इसने गलत निर्णयों पर पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की भी खिंचाई करने में कोताही नहीं बरती है। पर्यावरण को लेकर जब-जब भी सरकारें गैर ज़िम्मेदार रवैया अपनाती हैं, गैर सरकारी संगठनों ने इसकी मदद ली है। कुछ पर्यवेक्षकों की मानें तो सरकार पूर्ववर्ती नेशनल एनवायरमेंट अपीलेट अथॉरिटी की तरह इसे भी मंत्रालय का पिट्ठू बनाने का प्रयास कर सकती है। इसके लिए वह एनजीटी कानून में बदलाव करने पर विचार कर रही है।

2. यूपीए सरकार के समय लागू वनाधिकार कानून (एफआरए) के बारे में ऐसी धारणा है कि यह परियोजनाओं की आसान मंज़ूरी के मार्ग में एक बड़ी बाधा बन गया है। जहां-जहां भी समुदाय एफआरए को लागू करवाने में सक्षम साबित हुए हैं, वहां वे इसका इस्तेमाल वनभूमि के परिवर्तन (डायवर्ज़न) के खिलाफ कर रहे हैं। वन भूमि के उपयोग परिवर्तन के लिए ग्राम सभा की अनुमति की अनिवार्यता के प्रावधान को सरकार समाप्त करने पर विचार कर रही है। ऐसा वह खनिज खोज के मामले में कर चुकी है।

3. सत्ता संभालते ही एनडीए सरकार की शुरुआती घोषणाओं में एक बड़ी घोषणा यह थी कि वह भूमि अधिग्रहण कानून में संशोधन करना चाहती है। 'राष्ट्र हित' के नाम पर भूमि अधिग्रहण करने वाले करीब एक सदी पुराने औपनिवेशिक कानून में यूपीए सरकार ने बदलाव कर कुछ प्रगतिशील प्रावधान जोड़े थे। जैसे प्रभावित किसानों में से 80 फीसदी किसानों की सहमति होना, सामाजिक प्रभाव का अध्ययन करना और प्रभावितों में केवल उन्हें ही शामिल नहीं मानना जो ज़मीन के मालिक हैं, बल्कि इस ज़मीन पर निर्भर मज़दूरों को भी शामिल करना इत्यादि। एनडीए सरकार इन प्रगतिशील प्रावधानों में कटौती करने जा रही है।

4. चार पर्यावरण सम्बंधी कानूनों - पर्यावरण (संरक्षण) कानून, वन्यजीव (संरक्षण) कानून, वन (संरक्षण) कानून और जल एवं वायु प्रदूषण रोकथाम एवं नियंत्रण कानून की समीक्षा के लिए एक समिति बनाई गई है। इस समिति को दो माह के भीतर इन कानूनों के अब तक के क्रियान्वयन और मौजूदा ज़रूरतों के मद्देनज़र उनमें संशोधन करने के सम्बंध में सुझाव देने को कहा गया है। इस बारे में ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है कि ये संशोधन पर्यावरण सम्बंधी प्रावधानों को और मज़बूत बनाने के लिए होने चाहिए या नहीं, लेकिन 'मौजूदा ज़रूरत' जैसे शब्दों का इस्तेमाल

करके यह संकेत देने का प्रयास किया गया है कि जो भी संशोधन हों, अधिक से अधिक 'निवेशक अनुकूल' हों। इस समिति में न तो सिविल सोसाइटी से कोई सदस्य है और न ही पर्यावरण कानून का कोई जाना-माना विशेषज्ञ ही इसमें शामिल है। आम लोगों से जो राय मांगी गई है, उसकी भी सीमा 2000 अक्षरों (शब्द नहीं) तक सीमित है। मज़ेदार बात यह है कि भारतीय वन कानून की समीक्षा के कोई संकेत नहीं मिल रहे हैं, जिसमें औपनिवेशिक काल में इसके जन्म से लेकर आज तक कोई बदलाव नहीं हुए हैं। इसके तहत वन प्रशासन अब भी कुछ हाथों में सिमटा हुआ है।

मैं यहां अन्य क्षेत्रों, जैसे श्रम या न्यायिक क्षेत्र की नियुक्तियों में लाए गए या प्रस्तावित बदलावों की चर्चा नहीं कर रहा हूं, जबकि इनका भी पर्यावरण और पारिस्थितिकी पर निर्भर लोगों पर गंभीर असर पड़ने वाला है। आर्थिक, पर्यावरणीय, सामाजिक, विधिक और हमारे जीवन के अन्य पहलुओं के बीच पारस्परिक सम्बंधों तथा इन सब पर सरकारी निर्णयों के संभावित असर का अलग से आकलन ज़रूरी है।

जो संशोधन या बदलाव पहले से ही प्रस्तावित हैं, उनके अलावा भी मुझे लगता है कि सरकार पर्यावरण सम्बंधी कानूनों या नियमों को शिथिल करने या इससे सम्बंधित संस्थाओं के अधिकारों को कम करने को लेकर अनेक कदम उठा सकती है। उदाहरण के लिए पूर्ववर्ती यूपीए सरकार ने विकास परियोजनाओं की समीक्षा करने वाली पर्यावरण मूल्यांकन समितियों को कमज़ोर करने की प्रक्रिया शुरू कर दी थी। ये वे समितियां हैं जो पर्यावरण एवं वन मंत्रालय को अनुशंसा करती है कि अमुक विकास परियोजना को मंज़ूरी देनी है या उसे खारिज कर देना है। यूपीए सरकार ने इन समितियों को कमज़ोर बनाने के लिए इनमें ऐसे लोगों, खासकर पूर्व सरकारी अफसरों, की नियुक्ति की जो उसकी हां में हां मिला सके (इस प्रवृत्ति को कल्पवृक्ष एवं गोवा फाउंडेशन ने एनजीटी में सफलतापूर्वक चुनौती दी थी)। संदेह यही है कि भाजपा सरकार इस प्रक्रिया को और भी आगे बढ़ाएगी और इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि आने वाले समय में कुछ संस्थान केवल रबर स्टाम्प बनकर रह जाएं।

लोकतंत्र का पतन

किसी भी कीमत पर विकास के एजेंडे का असर केवल पर्यावरण और पारिस्थितिकी-निर्भर समुदायों पर ही नहीं पड़ेगा, बल्कि चिंता की बात यह है कि इससे लोकतंत्र भी उतना ही अधिक प्रभावित होगा। विस्थापन, बेदखली और पारिस्थितिकी क्षति के खिलाफ होने वाले विरोध को एक सीमा तक सहन किया जा सकता है। लेकिन जब यह विरोध इतना व्यापक हो जाता है कि उससे उद्योगपतियों और सरकार के हितों को नुकसान पहुंचने लगता है तो यह सहनशक्ति खत्म हो जाती है। तब कोई भी सरकार कार्रवाई करने से स्वयं को रोक नहीं पाती, चाहे वह किसी भी पार्टी की सरकार हो। सबूत के तौर पर छत्तीसगढ़, पश्चिम बंगाल, ओडिशा, गुजरात, असम और मध्यप्रदेश में देखा जा सकता है जहां अलग-अलग पार्टियों की सरकारें रही हैं और उन्होंने कथित विकास का विरोध करने वाली ताकतों को कुचलने के लिए हर संभव प्रयास किया है।

ऐसे संकेत हैं कि मोदी सरकार इस प्रक्रिया को इतना आगे ले जाना चाहती है, जितना इसके पूर्व की किसी भी सरकार ने नहीं किया होगा (वर्ष 1975-77 के आपातकाल को छोड़कर, जब इंदिरा सरकार ने सारी सीमाएं तोड़ दी थीं)। सारी शक्तियां प्रधानमंत्री कार्यालय में ही सीमित होकर रह गई हैं और कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री के अनुमोदन के बगैर किसी भी प्रकार का निर्णय नहीं ले सकता (नूरानी 2014)। सिविल सोसाइटी को निशाने पर लिया जा रहा है। हाल ही में इंटेलीजेंस ब्यूरो (आईबी) की 'लीक' हुई गोपनीय रिपोर्ट में ऐसे कुछ समूहों के नाम दिए गए हैं जिन पर विदेशी हितों के लिए काम करने और भारत के विकास में बाधा बनने का आरोप है। इनमें एक नाम ग्रीनपीस इंडिया का है जिस पर इस समय भारी दबाव बनाया जा रहा है। ग्रीनपीस इंटरनेशनल से इसे जो वित्तीय सहयोग मिलता था, उस पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। उसके सारे दस्तावेज़ों की जांच की जा रही है। यह कोशिश भी की जा रही है कि इसे फिलहाल टैक्स सम्बंधी जो भी छूट मिल रही

है, वे वापस ले ली जाएं। हालांकि ऐसा प्रतीत होता है कि आईबी की यह रिपोर्ट यूपीए सरकार के समय तैयार की गई होगी, लेकिन यह केवल संयोग नहीं हो सकता है कि भाजपा के सत्ता में आते ही इसे लीक कर दिया गया। इसमें एक पैराग्राफ तो मोदी के भाषण से लिया गया है जिसमें उन्होंने विदेशी धन से संचालित गैर सरकारी संगठनों द्वारा जवाबदेही से बचने का उल्लेख किया है। ऐसी संभावना है कि और भी कई अंतर्राष्ट्रीय एवं स्थानीय समूह जांच के दायरे में हैं। इस प्रक्रिया के उस समय आगे बढ़ने की संभावना है जब फॉरेन कॉन्ट्रीब्यूशन रेगुलेशन एक्ट के तहत हज़ारों गैर सरकारी संस्थाओं के नवीनीकरण का मुद्दा आएगा। गृह मंत्रालय किसी भी गैर सरकारी संस्था के नवीनीकरण से किसी भी 'वजह' से इंकार कर सकती है या उसे लटका सकती है।

अब सरकार किसी 'कष्ट' पहुंचाने वाले सिविल सोसाइटी समूह को बंद करे या न करे, यह बाद की बात है, लेकिन सरकार की इस कार्यप्रणाली से मिल रहे संकेतों पर कार्पोरेट घरानों ने काम करना शुरू कर दिया है। कार्पोरेट घराने अदालतों में आईबी की रिपोर्ट पेश करके उस आंदोलन या एनजीओ के खिलाफ आदेश चाहते हैं जो उनकी गतिविधियों का विरोध कर रहे हैं। एस्सार समूह ने ग्रीनपीस इंडिया के खिलाफ यही कोशिश की है। ग्रीनपीस इंडिया मध्यप्रदेश के सिंगरौली के महान गांव में उन स्थानीय निवासियों की मदद कर रहा है जो कोयला खनन के कारण विस्थापित हो रहे हैं। कर्नाटक सरकार ने उन गैर सरकारी संस्थाओं को नोटिस जारी किए हैं जिन्हें विदेशी पैसा मिलता है। उन्हें पिछले पांच वर्षों के दौरान विभिन्न आंदोलनों में भागीदारी और महिला सुरक्षा, वन विभाग, वन्यजीव बोर्ड, आदिवासियों/देवदासियों के बच्चों के विस्थापन/पुनर्वास एवं बैंगलुरू की सूचना प्रौद्योगिकी कंपनियों द्वारा उत्सर्जित ई-वेस्ट जैसे मुद्दों पर उनकी सहभागिता सम्बंधी रिपोर्ट देनी है।

पर्यावरण एवं सामाजिक सरोकारों से सम्बंधित महत्वपूर्ण संस्थानों से स्वतंत्र आवाज़ों को हटाकर भी लोकतांत्रिक प्रवृत्ति को कम किया जाएगा। जैसा कि ऊपर उल्लेखित किया जा चुका है कि पर्यावरण एवं वन मंत्रालय की पर्यावरण आकलन समितियों के महत्व को यूपीए सरकार ने कम किया था और अब भाजपा सरकार इसी पर आगे काम कर रही है। लेकिन यह केवल पर्यावरण आकलन समितियों तक ही सीमित नहीं रहेगा। अन्य तमाम संस्थानों में भी ऐसा ही होगा। एनबीडब्ल्यूएल की पहले ही बलि दी जा चुकी है। अब अगर एनजीटी को भी खत्म किया जाता है तो फिर नागरिकों के लिए केवल अदालतें ही रह जाएंगी। लेकिन अब तो अदालतों की स्वतंत्रता भी खतरे में नज़र आ रही है। अगर सरकार राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग कानून 2014 का इस्तेमाल करती है तो फिर वह ऐसे न्यायाधीश नियुक्त कर सकेगी जो उसके इशारों पर चलेंगे।

विकास की गलत धारणा

इन सभी कदमों को न्यायसंगत ठहराने के लिए जो दलील दी जाती है, वह यह है कि इससे विकास की गति तेज़ होगी। विकास की गति तेज़ होने से देश के सभी लोगों में समृद्धि आ सकेगी। गरीबी हटेगी, भुखमरी कम होगी और सब को न्याय मिलेगा। विकास को यह गति केवल निजी क्षेत्र द्वारा ही प्रदान की जा सकती है यानी हमें 'निवेश अनुकूल' वातावरण की सख्त दरकार है (यह विडंबना है कि आज सरकारों द्वारा 'वातावरण' शब्द का इस्तेमाल पर्यावरण की बजाय निवेश के लिए ज़्यादा किया जाता है।)। इस सम्बंध में भाजपा का घोषणापत्र भी कहता है :

''हम व्यापार को आसान बनाने, लॉजिस्टिक्स व बुनियादी सुविधाओं में निवेश करने, बिजली की आपूर्ति सुनिश्चित करने के लिए सभी ज़रूरी कदम उठाएंगे, जैसे मंज़ूरी की राह में आने वाली लाल फीताशाही को खत्म करेंगे। हम श्रम सुधार लागू करेंगे। निवेशकों के लिए एक अनुकूल वातावरण बनाने के लिए इनके अलावा भी अन्य कदम उठाए जाएंगे।''

यह केवल भ्रम है कि उच्च विकास दर से भारत फिर से दूध-घी की नदियों वाला देश बन जाएगा। असीम श्रीवास्तव और मेरे द्वारा 2012 में लिखी एक किताब में एक समग्र विश्लेषण पेश किया गया है। इसमें बताया गया है कि देश के 70 फीसदी लोग किसी न किसी बुनियादी सुविधा से वंचित हैं। संगठित क्षेत्र में रोज़गार वृद्धि की दर बहुत ही

कम है। कुपोषण की समस्या गंभीर बनी हुई है। विभिन्न प्रकार के सामाजिक मापदंडों में भारत का दर्जा बहुत ही बदतर है। गरीब और अमीर के बीच असमानता की खाई तेज़ी से बढ़ रही है। सस्टेनेबिलिटी खत्म होती जा रही है। हम जैसे-जैसे और भी आगे बढ़ते जाएंगे, इन समस्याओं में और भी इज़ाफा होता जाएगा।

एक और भ्रम जो सरकार फैला रही है, वह यह है कि पर्यावरण को होने वाले नुकसान की आसानी से भरपाई की जा सकती है। जावड़ेकर ने कथित तौर पर कहा है कि वन भूमि के डायवर्ज़न से तो पारिस्थितिकी में सुधार हो रहा है, क्योंकि इस भूमि पर दो गुने पेड़ लगाए जा रहे हैं। यह नज़रिया बताता है कि उनमें पर्यावरण को लेकर कितनी अनभिज्ञता है। तथ्य तो यह है कि हज़ारों साल पुराने जंगलों का स्थान नए वृक्ष नहीं ले सकते, भले ही आप दस गुना ज़्यादा पेड़ लगा लें।

उम्मीद की अंतिम किरण

इन बदतर हालात में भी कुछ उम्मीद बाकी है। पहली, भूमि अधिग्रहण, जंगलों पर कब्ज़ा जमाना, पानी के निजीकरण, श्रमिकों का विस्थापन और ऐसे ही मामलों में जनविरोध बढ़ता जा रहा है। गत 17 सितंबर को ओडिशा के गजापति में वनाधिकार कानून को शिथिल करने के प्रयासों के खिलाफ हज़ारों आदिवासियों ने विरोध प्रदर्शन किया। देश के अलग-अलग इलाकों में सरकार और कार्पोरेट घरानों की ताकत के खिलाफ दर्जनों आंदोलन चल रहे हैं। इनमें से कइयों को सफलता मिली है। जिन्हें सफलता नहीं मिली है, वे भी दूसरों को अपने अनुभवों से सबक सिखा रहे हैं।

ऐसे सैकड़ों, बल्कि हज़ारों प्रयास किए जा रहे हैं ताकि मनुष्य की ज़रूरतों और उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए टिकाऊ व सामाजिक भेदभावविहीन विकल्पों की खोज की जा सके। टिकाऊ कृषि, विकेंद्रीकृत वॉटर हार्वेस्टिंग एवं नवीकरणीय ऊर्जा, समुदाय केंद्रित निर्णय प्रक्रिया, समानता व न्याय के लिए संघर्ष, इको-फ्रेंडली आवास सुविधा, कचरामुक्त कॉलोनियां, अपशिष्टविहीन निर्माता कंपनियां एवं आर्थिक लोकतंत्र के अन्य स्वरूप, वैकल्पिक मीडिया एवं कला और इसी तरह के अन्य प्रयास दर्शाते हैं कि हम मिलकर एक अलग भविष्य बना सकते हैं।

इस कठिन समय में सिविल सोसाइटी का सबसे बड़ा योगदान यह होगा कि वह इन आंदोलनों को समझकर उनका दस्तावेज़ीकरण करें, उन्हें प्रचारित करें, उनकी मदद करें और उनके लिए नेटवर्क तैयार करें। अगर वृद्धि आधारित इस विकास मॉडल के भीमकाय कदमों को रोकना है तो हमें मानवता की भलाई के लिए वैकल्पिक रास्तों की तलाश करनी होगी। ***(स्रोत फीचर्स)***